चतुर्थ अध्याय

आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आदिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आदिकाल, भक्तिकाल एवं रीतिकाल के विशेष संदर्भ में साहित्य के इतिहास के लेखकों एवं आलोचकों के बीच भिन्न-भिन्न राय हैं। आदिकाल अपने युग एवं परिस्थिति में भक्तिकाल से भिन्न है और रीतिकाल से भी। इसीलिए साहित्य के इतिहासकारों ने इसे भिन्न-भिन्न नामों से अभीहित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'वीरगाथा काल' कहा है। राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'सिद्ध-सामंत-युग' कहा है और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त सभी नामों की तुलना में 'आदिकाल' कहना अधिक समीचीन समझा है। मुक्तिबोध 'आदिकाल' के नामकरण के विषय में विशेष रूचि नहीं लिए हैं। मुक्तिबोध साहित्य के इतिहास को तार्किक दृष्टि से परखते हैं। उन्होंने आदिकालीन साहित्य और इतिहास पर कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखे हैं, अपितु साहित्य और सामाजिक संरचना के इतिहास के विषय में जिक्र के तौर पर कहीं-कहीं आलोचनात्मक स्वरूप में मिलता है। जैसे-आचार्य रामचन्द्र, शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पुस्तक में 'वीरगाथा काल' नाम साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर दिया गया है। मुक्तिबोध साहित्य की प्रवृत्ति और प्रकृति के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं हजारीप्रसाद द्विवेदी से भिन्न विचार रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य

स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएं फूटती रही है, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता है।"[1]

किसी भी समाज का इतिहास शासक और समाज के बीच घटने वाले तत्वों पर निर्भर करता है। आदिकालीन इतिहास सामंत और राजशाही व्यवस्था के अतिरिक्त राजाओं के आपसी वर्चस्व एवं सीमा विस्तार का इतिहास है। तत्कालीन सामाजिक संस्कृति और परम्परा के बीच अनेकों उतार-चढ़ाव देखने को मिलता है, चाहे वह 'रासो साहित्य' का इतिहास हो या फिर जैन एवं बौद्ध साहित्य का रूपायन ही क्यों न हो।

इससे साहित्य के इतिहासबोध एवं उसकी शाश्वतता का भाव उजागर होता है। मुक्तिबोध का इस संदर्भ में विचार है- "वस्तुतः साहित्य की शाश्वता का प्रश्न परम्परा के रूपायन का प्रश्न है। हमारे पूर्वकालीन समाजों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ जिन्हें हम अमर कहते हैं, इसीलिए हमारे लिए मूल्यवान हैं कि उनके भीतर समाये हुए जीवन-तत्वों को हम ने अपनी परम्परा में अन्तर्भूत कर लिया है।"[2]

परम्परा का रूपायन सभ्यता से आती है। सभ्यता के विकास में शासक और समाज के बीच का संबंध अंतर्निहित होता है। इतिहासबोध इन सभी पक्षों को सूक्ष्मता से उल्लेखित करता है। इस संदर्भ में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' के विचार दृष्टव्य है- "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक-सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन

परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रूचिविशेष का संचार और पोषण किधर से किस प्रकार हुआ।"[3] आदिकाल सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक एवं राजनीतिक रूप से अस्थिर रहा। सम्राट हर्षवर्द्धन के समय से ही उत्तर भारत में यवन का आक्रमण आरंभ हो गया था। और लगातार अंतिम वर्द्धन साम्राज्य का भी पतन यवन प्रतिरोध में ही बीत गया। इसके पश्चात मुगलों का आक्रमण आरंभ हुआ। लगातार आक्रांताओं के आक्रमण और युद्धों के बीच प्रजा पीड़ित हो चुकी थी। पृथ्वीराज चौहान एवं जयचंद की लड़ाई इतिहासप्रसिद्ध है। चंदरवरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासों' में इसकी ऐतिहासिक, राजनीतिक एवं काव्यगत विशेषताओं की झलक भी मिलती है।

धार्मिक स्वरूप में भी इस काल में बदलाव देखा गया है। वैदिक यज्ञ, मूर्तिपूजा, जैन एवं बौद्ध उपासना, तांत्रिक उपासना, आदि में इस समय के इतिहास का साक्ष्य है जो यह बोध करवाता है कि आदिकाल में धार्मिक आडंबर एवं कदाचार बढ़ता जिसके फलस्वरूप जनता ईश्वर एवं भक्ति के लिए अलग विकल्प का चयन किया।

सांस्कृतिक दृष्टि से आदिकाल का इतिहासबोध दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास को उजागर करता है। डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश के अनुसार- "आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप मिलता है, वह परंपरागत गौरव से विच्छिन्न तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मित है।"[4] तत्कालीन

समाज दो भिन्न सांस्कृतिक-राजनैतिक विस्तार की चपेट में था। समाज, शासक और सत्ता दोनों से प्रभावित होती है। जो आने वाले समाज के लिए आलोचनात्मक प्रतिबिंब का कार्य करती हैं। मुक्तिबोध, इस दृष्टि से समाज को तार्किक एवं रचनात्मक रूप में व्याख्यायित किए हैं। उनके अनुसार- "समाज की गतिशीलता में राजनैतिक प्रक्रियाओं में से एक है। समाज को विकासशील बनाने वाली अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, सांस्कृतिक प्रक्रिया।"[5]

आदिकालीन साहित्य का इतिहासबोध उपर्युक्त कथन की प्रासंगिकता को उजागर करता है। आदिकालीन साहित्य बौद्ध धर्म के पतन, आदिशंकराचार्य का अद्वैत सिद्धांत एवं कुमारिलभट्ट आदि के विचार का भी दिग्दर्शन कराता है। आदिकालीन समाज का समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह उजागर करता है, कि तत्कालीन समाज भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, परंपराओं, में स्वयं को विच्छिन्न पाता है। इस संदर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार दृष्टव्य हैं- "इतिहास, जो जीवंत मनुष्य के विकास की जीवन-कथा होता है, जो काल-प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाल नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काव्य के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है।"[6]

वस्तुतः 'आदिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध' दो भिन्न परिप्रेक्ष्यों को उजागर करता है। मुक्तिबोध इतिहास और इतिहासबोध को मानवेतिहास के संरचनात्मक विकास के रूप में देखते है। उसके अंतर्भूत घटनाओं एवं तत्वों का

विश्लेषण भी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक एवं राजनैतिक संरचना में बदलाव के 'कारण' के रूप में व्याख्यायित हुआ है। 'भारत: इतिहास और संस्कृति' उपर्युक्त विवेचनाओं का तार्किक पक्ष उजागर करता है।

भक्तिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

"राजनैतिक उलट-फेर होते रहते हैं, पर समाज में विकास की परम्परा चलती रहती है। ऊपर-ऊपर मुसलमान और हिंदू राजाओं में युद्ध-मुसलमान एक-दूसरे के साथ भातृ-भाव से रहने के प्रयत्न कर रहे थे। वे एक-दूसरे से विचारों, आदर्शों, प्रथाओं और धार्मिक मान्यताओं का आदान-प्रदान भी रहे थे।"[7] उपर्युक्त संदर्भ मुक्तिबोध ने मध्यकालीन इतिहास के संदर्भ में उचित प्रतीत होता है। समाज गतिशील होता है। वह अनेक प्रकार के घटनाओं एवं व्याघातों से बनता-बिगड़ता है और फिर पुनर्निमित होता है। आदिकाल जहाँ वीरता का वर्चश्व अपने चरम पर था वहीं समाज में आर्थिक कट्टरता भी फैल रहा था। भक्तिकाल का उदय दो भिन्न संस्कृतियों के बीच का काल था। इन दोनों भिन्न संस्कृतियों की धार्मिक मान्यताएं परंपरा एवं प्रवृतियाँ भी भिन्न थीं। भक्तिकाल में धार्मिक कट्टरता अलग-अलग वर्ग, वर्ण एवं संप्रदाय के बीच था। भक्तिकाल का उदय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अस्थिरता के बीच हुआ, जो इतिहास में सीधे-सीधे शासक और जनसामान्य के बीच के 'प्रतिरोध' को दर्शाता है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल की उदय की व्याख्या अनेक इतिहासकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जहाँ 'जनता की चित्तवृत्ति' केन्द्र, में हैं, वहीं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने

'लोक-चिंता' को केन्द्र में रखा है। आचार्य शुक्ल को साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्पष्ट होता है कि उनकी साहित्यिक दृष्टि के केन्द्र में रखकर 'लोकमंगल' की भावना प्रमुख स्थान दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल के उदय के प्रमुख कारण 'इस्लाम का आगमन' माना है। इस्लाम के आगमन से पूर्व भी जनसामान्य के बीच उथल-पुथल था। इस्लाम का आगमन सिर्फ एक ऐतिहासिक घटना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने शुक्लाजी के उक्त वक्तव्य को तर्कसंगत नहीं माना है। इस संदर्भ में उनका मानना है, भक्तिकाल का उदय 'महज भारतीय परम्परा का अपना स्वतः स्फूर्त्त विकास' है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहासबोध में 'लोकमत' की सामूहिकता का भाव है, जिसमें धर्म, सभ्यता, परम्परा आदि को समग्रता से देखा गया है। भक्तिकाल के उदय में 'जनसामान्य' की भूमिका अहम थी। किसी भी समाज के व्यापक परिवर्तन में जनसमूह का सहयोग मिलना आवश्यक है। तभी समाज में कोई भी परिवर्तन होता है एवं व्यवहारिक प्रयोग में भी आता है। भक्तिकाल में इन सभी पक्षों का उल्लेख अलग-अलग संदर्भ में हुआ है। मुक्तिबोध भक्तिकाल के इतिहासबोध एवं उसकी संरचनात्मक विकास को निम्न दृष्टि से अभिव्यक्त किया हैं- "मध्ययुग में संवेदनात्मक वर्ग से आये संत और कवि इस अर्जित ज्ञान-परम्परा या भाव-परम्परा में ही कुछ फेरफार करके अपने को उद्बुद्ध और सचेत पाते हैं। इस अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव-परम्परा के ही कुछ तत्वों को (भक्तित्व को) अपने लिए उपयुक्त समझ, उसके आधार पर अपनी स्थिति संगठित करते हैं। जिनसे वे प्रतिकूल बातें खंडित हों। इस प्रकर वे, एक और, समाज के साथ सामजंस्य, तो दूसरी ओर उसके साथ-द्वंद्व-इन दोनों का

निर्माण करते हैं। समाज के साथ सामंजस्य और द्वंद्व ही यह युगपत प्रतिक्रिया हमें भक्ति-आंदोलन में परिलक्षित होती है। समाज के साथ सामंजस्य और द्वंद्व एक साथ उपस्थित करने वाले इस भक्ति-आंदोलन की विशेषता दृष्टव्य है।"[8]

मुक्तिबोध का उपर्युक्त प्रसंग ऐतिहासिक सामाजिक स्थिति को उजागर करता है। इतिहास में तत्कालीन सामाजिक स्थिति को में धर्म-सुधार आंदोलन के तौर पर भी माना जाता है। मध्ययुग के सामाजिक सुधार आंदोलन में अधिकांशतः निम्न वर्ग के संत थे। निम्न वर्ग के संतों को शास्त्रीय ज्ञान का अभाव था। मुक्तिबोध इसीलिए इनके ज्ञान को 'अर्जित ज्ञान परम्परा या भाव परम्परा' कहा है, क्योंकि निम्न वर्गीय संतों ने समाज में 'समभाव' विचार विाचर लाने के लिए व्यवहारिक दृष्टि को केन्द्र में रखा है। भक्ति की शास्त्रीय समझ जो उच्च वर्ग के लोगों एवं सामंतो को था, उसका निम्नवर्ग के संतों ने प्रतिरोध किया एवं जनसामान्य के बीच जनजागृति फैलायी। मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के इस प्रक्रिया को 'सामजंस्य और द्वंद्व की युगपत् प्रतिक्रिया' के रूप में व्याख्यायित किया है।

मुक्तिबोध साहित्य एवं इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अर्जित ज्ञान परम्परा एवं द्वंद्व का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनेां दृष्टियों से मूल्यांकन किया है। इसीलिए इतिहास के घटक तत्व भी उनके मूल्यांकन एवं तर्क का आधार है। समाज और उसकी संरचना के विकास में द्वंद्व का स्थान महत्वपूर्ण भाग है। भक्तिकाल का समाजबोध, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुर्नत्थान का बोध कराता है, जिसमें 'मनुष्यत्व' की भावना केन्द्र में है। भक्तिकाल का समाज, जाति एवं

वर्गों में विभक्त था। तत्कालीन ऐतिहासिक प्रवृत्ति के संबंध में मुक्तिबोध का मानना है- "मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बननेवाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान ले। कबीर हमें अपेक्षित रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में छिपा है।" मुक्तिबोध के उपर्युक्त कथन में 'सांस्कृतिक इतिहास' एवं 'सामाजिक शक्ति' महतवपूर्ण तथ्य हैं। ये तथ्य किसी भी समाज के बदलते स्वरूप का केन्द्र बिंदु होता है। मध्यकालीन भारत अनेक प्रसंगों में राजशाही एवं सामंती-शक्ति से प्रतिनिधित्व करता समाज था। धार्मिक स्तर से मध्ययुगीन भारत में हिंदू, मुसलमान एवं सिक्ख आदि अनेक धर्म में समाज विभक्त था। धार्मिक कट्टरता एवं पाखंड भी तत्कालीन समाज में बढ़ता गया। तत्कालीन समाज का अधिकांश सम्मानित वर्ग मुसलमानों का था, जो शासक वर्ग के विशेष समूह से संबंध रखता था। इसीलिए ये वर्ग अधिक प्रभुत्वशाली एवं विशेषाधिकार युक्त थे। विदेशी मुसलमानों में तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान आदि थे। दूसरा वर्ग भारतीय मुसलमान था जो अधिकांशतः हिंदू से मुस्लिम धर्म में धर्मांतरित हुआ। अर्थात् दो भिन्न संस्कृतियों के बीच धर्मांतरण और सामाजिक जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव भी संतोषजनक नहीं था। इसीलिए मुक्तिबोध गतिमान सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के द्वंद्व को कहना ठीक समझते हैं। हिंदू समाज वर्ण एवं जाति में विभक्त था, जो भिन्न-भिन्न काल के प्रवाह में भिन्न-भिन्न स्वरूप में सामने आया। हिंदू और मुस्लिम दोनों सामंती समाज था, जिसमें दास-प्रथा प्रचलित थी। जैसे-फिरोज तुगलक दासों का बड़ा शौकीन था। कुतुबुद्दीन ऐबक,

इल्तुतमिश और मलिक काफूर जैसे दासों ने भी तत्कालीन इतिहास में बड़ा नाम कमाया। तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा संतोषजनक नहीं थी। आमलोगों में एक स्त्री का एक पुरुष से विवाह की प्रथा प्रचलित थी, परंतु प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चश्व समाज में धीरे-धीरे बढ़ता गया और सामाजिक संरचना में परिवर्तन होता गया। सामंती समाज जागीरदारी सभ्यता का पोषक होता है। जिसमें निम्न वर्ग का शोषण बड़ी आसानी से किया जाता है। यह आर्थिक एवं सामाजिक स्तर पर अधिक होता है। भक्तिकालीन इतिहासबोध में सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक शोषण के विरूद्ध 'प्रतिरोध की ध्वनि' है, जो तत्कालीन संतकवियों के 'बाणियों' से जाहिर होता है।

मुक्तिबोध भक्तिकाल के इतिहास एवं साहित्य की विवेचना में सामाजिक एवं सांस्कृतिक शक्ति को भी अहम माना है- "ब्राह्मणेतर संत-कवि की काव्य भावना अधिक जनतंत्रात्मक सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापन के उसे युग में कट्टर पुराणपंथियों ने जो-जो तकलीफे इन संतो को दी हैं, उनसे ज्ञानेश्वर जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान संत का जीवन अत्यन्त करूण कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वरी तीन-सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रंथ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब वह पुनः प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट है कि समाज के कट्टरपंथियों ने इन संतो को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ अपने संतो को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ी?"[10] मध्ययुगीन भारत अर्थात् भक्तिकाल में प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व निम्न वर्ग के लोगों पर था। निम्न वर्ग अपनी मूलभूत आवश्यकताओं एवं

अधिकारों के लिए संघर्षरत थी। 'गोस्वामी तुलसीदास और मध्यकालीन भारत' नामक निबंध में डॉ. रामविलास शर्मा ने अकबरकालीन और जहागीरकालीन भारत के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संरचना की व्याख्या की है। उस समय की भूमि संबंधी कर व्यवस्था, किसान और सामंत के बीच का संघर्ष, सामंत और राजसत्ता के बीच का संघर्ष और निम्नवर्ग एवं जाति के लोगों के साथ शोषण अधिक हो रहा था- "हमने मध्यकाल के जिन सुनहले स्वप्नों की कल्पना कर रहे हैं, वो वास्तविकता की भूमि पर चूर हो जाते हैं। उस समय का मुख्य संघर्ष सामंत और किसान के बीच था। ज्यों-ज्यों हम औरंगजेब की ओर बढ़ते है, त्यों-त्यों संघर्ष तीव्र होता जाता है।"[11]

मुक्तिबोध की दृष्टि रामविलास शर्मा के ऐतिहासिक दृष्टि से भिन्न हैं- "राजनैतिक दृष्टि, यह जनता हिंदू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामंती उच्चवर्गीय से पीड़ित रही। संतो की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि संतों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया।"[12] मुक्तिबोध ने सामाजिक तौर पर सामंती स्थिति को दोनों धर्मों के उच्चवर्गीय लोगों की ओर इंगित किया है। तत्कालीन संत समाज के विकास में तत्कालीन परिस्थितियों की प्रमुख भूमिका रही है। चाहे वह, किसान, कास्तकार, बनिया एवं गरीब मजदूर क्यों न हो, इन सभी वर्गों के लोगों ने सामंती व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी। इसीलिए मुक्तिबोध जनसामान्य को व्यापक दृष्टि से देखते हैं एवं उसके प्रति संवेदनशीलता जाहिर करते हैं। अन्य आलोचकों की तुलना में मुक्तिबोध का इतिहासबोध एवं समाजबोध तार्किक एवं प्रासंगिक भी है।

वे समाज में शासन व्यवस्था के बदलने से सामाजिक परिवर्तन एवं उसके गतिशीलता के आधार बिंदु को रेखांकित किये हैं। समाज गतिशील होता है, लेकिन उसके अंतर्भूत घटक के बीच का परिवर्तन समाज और इति3हास दोनों निर्धारित करता है। अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब तक आते-आते भारत के सामाजिक-आर्थिक संरचना में काफी बदलाव देखा गया। मालगुजारी एवं कर व्यवस्था में भी क्षेत्रीय तौर पर धाँधली होना शुरू हुआ, जिसकी वजह से छोटे-किसान एवं मजदूर वर्ग का जीवन कष्टप्रद होता चला गया। इतिहास के इन तमाम घटनाओं को देखें तो साफ जाहिर होता है कि सामाजिक स्तर पर असंतोष तत्कालीन व्यवस्था के प्रति था, जिसके फलस्वरूप भक्ति, आंदोलन में परिवर्तित हो गया और इस परिवर्तन में समाज के सभी वर्गों के लोगों ने भाग लिया। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार दृष्टव्य हैं- "किन्तु भक्ति-आंदोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आंदोलन पर नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरूषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरूद्ध आवाज बुलंद की।"[13] भारतीय सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था का चित्रण वर्ण व्यवस्था के टूटने के पश्चात् अधिक हुआ। समाज में वर्ग वर्ण एवं जाति तीन रूपों में विभक्त हो गया। सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक असंतोष के बीच परिवर्तन स्वभाविक था। कबीर, तुलसी, मीराबाई, रैदास इन सभी समाज-सुधारकों जनसमुदाय के बीच सुधार हेतु 'जनवाणी' का चयन किया। डॉ. रामविलास ने संत-साहित्य के विकास को सामाजिक परिस्थिति के रूप में स्वीकारा है एवं शास्त्रीयता एवं ब्राह्मणवादी व्यवस्था से कोसो दूर

बताया है। मुक्तिबोध सामाजिक परिस्थिति के साथ सामाजिक शक्तियों के संचालनकर्त्ता को केन्द्रित किया है। शासक और सामंत के बीच के गठजोड़ को भी उजागर किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में तुलसी की अपेक्षा कबीर ज्यादा आधुनिक है। कबीर स्वभाव से ही अक्कखड़ प्रवृत्ति के थे। उनकी 'वाणियों' में जितनी फटकार पंडितो को है, उतनी ही मौलवियों को।

भक्तिकाल में दो धारा के कवि हैं- निर्गुणा एवं सगुण धारा के कवि। निर्गुणधारा के कवियों में कबीर, दादू, नानक रैदास आदि कवि हैं, वहीं तुलसी, मीरा, सूरदास, रसखान आदि सगुण धारा के कवि हैं। मुक्तिबोध मुख्य रूप से निर्गुण धारा एवं सगुणधारा के अंतर्गत रामकाव्य परंपरा के कवि कृष्णकाव्य के अंतर्गत आने वाले कवियों का विवेचन किया है। मुक्तिबोध की दृष्टि में रामभक्ति शाखा की तुलना में कृष्णभक्ति शाखा के कवि सामाजिक रूप से अधिक समावेशी है। तुलसी को मुक्तिबोध ने वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनर्विजयी करने वाला बताया है। तुलसी को अन्य आलोचक भिन्न दृष्टि से देखते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने तुलसी को 'जातीय-जनजागरण का सर्वश्रेष्ठ' कवि कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी को 'भारतीय जनता का प्रतिनिधि' कवि कहा है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में वर्ण, वर्ग एवं जाति की संरचना साफ-साफ जाहिर होता है। रामचरितमानस में, राम, निषाद, गुह आदि के चरित्रों एवं कार्यों का चित्रण तुलसीदास ने सजीवता से किया है। तुलसी के राम मुक्तिबोध की दृष्टि में भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था एवं सामाजिक दायरा से बंधा हुआ है। इसीलिए सगुण भक्तिधारा में जब रामभक्ति शाखा का विवेचन और मूल्यांकन किया जाता है, तब उसमें निम्नजातीय लोगों की भागीदारी कम है। समाज में समावेशी एवं

समभाव का वातावरण होना चाहिए। उसमें धर्म, जाति एवं वर्ण की ऊँच नीच की दृष्टि का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

तुलसी की तुलना में कबीर के विचार अधिक आधुनिक एवं प्रासंगिक हैं। वे निर्गुण भक्तिधारा के सबसे प्रखर समाज-सुधारक और कवि रहे हैं। उनकी 'वाणियों' में समाज के प्रत्येक वर्ग की अनुभूति है। कबीर की उद्घोषणा में धर्म, जाति एवं संप्रदाय का सामाजिक दायरा नहीं है। वह सामंती एवं पुराणपंथी ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर कुठाराघात किया है, इसीलिए उनकी बाणियों में 'मनुष्य-तत्व' की उद्घोषणा हुई है। मुक्तिबोध की दृष्टि में कबीर का मनुष्य-सत्य की घोषणा क्रांतिकारी है। कबीर निम्न वर्ग के स्वर को जनता के सामने मुखरता से रखा। वे धार्मिक अंधविश्वास, जाति-पाति, कठमुल्लापन एवं छूआछूत के विरूद्ध जनसामान्य के बीच उन्हीं के शब्दों में अपनी बात कही, जिसके कारण आम जनता में जागृति फैली। कबीर धर्म के विरूद्ध नहीं थे। वे हिंदू-मुस्लिम एवं अन्य धर्मों में फैले धार्मिक कुरीति के खिलाफ थे। इसीलिए कबीर 'निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई' की उद्घोषणा करते हैं। कबीर के राम 'निरगुण राम' है, जो निरंकार है। कबीर के राम और रहीम की उद्घोषणा में सर्वधर्म समभाव एवं लोकतत्व की भावना उजागर होती है। कबीर "मुलाँ कहाँ पुकारै दूरि, राँम रहीम रह्या भरपूरि" की इस उक्ति में 'राम-रहीम' के बीच कोई फर्क नहीं है। वे 'मानुष धर्म' के बीच समभाव की जागृति लाना चाहते थे। इसीलिए उनकी सामाजिक उद्घोषणा आज भी प्रासंगिक एवं आधुनिक है। मुक्तिबोध ने इस संबंध में ठीक ही कहा है- "निष्कर्ष यह है कि जो भक्ति-आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरूद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-

आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका 'मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति-आंदोलन को उच्च-वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उसपर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।"[14]

मुक्तिबोध के उपर्युक्त कथन में निम्नवर्गीय 'सांस्कृतिक आशा एवं आकांक्षा' को इंगित किया है। किसी भी समाज में परिवर्तन तभी गतिमान होती है जब वह जनसमुदाय के सहयोग से हो। भक्तिकाल का जनसमुदाय इस परिवर्तन का आधार बना। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा के विचार द्रष्टव्य है "इस भक्ति-आंदोलन की पहली विशेषता यह है कि वह अखिल भारतीय है। देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक सांस्कृतिक-आंदोलन संसार में दूसरा नहीं है।"[15]

वस्तुतः भक्तिकाल सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से जनसामान्य की जागृति का काल था। जिसमें सभी धर्मों, वर्णों एवं वर्गों की भागीदारी थी। तत्कालीन संत कवियों ने जनसामान्य को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया एवं सामंती ढाँचा के खिलाफ संघर्ष शुरू किया। साहित्य के इतिहास में जब सामंती एवं राजशाही व्यवस्था के खिलाफ जब 'जनविद्रोह' की बात होती है, तब 'भक्तिकाल' को अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया जाता है। भक्तिकाल में पहली बार भारतीय स्त्रियाँ घर से बाहर निकली और सामंती समाज में स्त्रियों की आवाज को पुरुषों के समकक्ष अभिव्यक्त की, चाहे वह ललद्यद हो, तमिलनाडु की आंडाल, कर्नाटक की अक्का महादेवी और राजस्थान की

मीराबाई ही क्यों न हों। इन सभी स्त्री संत कवयित्रियों ने स्त्री स्वर को समाज में मुखरता से आगे लाने का काम किया। आधुनिक संदर्भ में जब मीरा की बात होती है, तब स्त्री स्वतंत्रता एवं उसके मूलभूत अधिकार को भी नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता है। सामंती समाज मूलभूत अधिकारों का दमन करता है। मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक दृष्टि से भक्तिकाल को 'उच्चवर्गीय शक्ति' के रूप में बार-बार रेखांकित किया है। साथ ही साथ वर्णाश्रम व्यवस्था के बीच शासक और सामंत किसप्रकार गठजोड़ बनाते हैं, उसका भी तर्कसंगत मूल्यांकन किया है। भक्तिकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ अनेक प्रसंगों में भिन्न हैं चाहे वह इतिहास या समाजशास्त्र के पहलू से देखें तो साफ जाहिर होता कि सत्ता और समाज के बीच व्यापक असंतोष था। यह असंतोष सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदि के तौर पर देखा गया है। इसीलिए मुक्तिबोध 'सांस्कृतिक आशा एवं आकांक्षा' की बात करते हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में सच्ची जनवादी सामाजिकता का प्रादुर्भाव एक 'Organic Society' के पुनर्जागरण के बाद ही संभव है। मुक्तिबोध की दृष्टि में इसीलिए तुलसी की अपेक्षा कबीर अधिक क्रांतिकारी हैं। भक्तिआंदोलन जनसांस्कृतिक चेतना का काल था, जिसमें 'सर्वधर्म समभाव' एवं 'जनसामान्य की उद्घोषणा' का स्वर साफ जाहिर होता है।

रीतिकाल और मुक्तिबोध का इतिहासबोध

आचार्य राचमचन्द्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य में 'उत्तरमध्यकाल' की समयावधि संवत् 1700-1900 माना है। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भी

इस काल को अलग-अलग नामों से अभिहित किया है। मिश्रबंधुओं ने 'अलंकृतकाल', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रीतिकाल' आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'श्रृंगार काल' कहा है। उपर्युक्त नामकरण साहित्येतिहासकारों ने तत्कालीन इतिहास एवं साहित्य के स्वरूप को केन्द्र में रखकर किया है। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार उचित प्रतीत होता है- "वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को इस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है। श्रृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया। इसका कारण जनता की रूचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रूचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।"[16] उत्तरमध्यकाल की सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति जड़तापूर्ण एवं रूढ़िग्रस्त हो चुकी थी। तत्कालीन समाज के इतिहास को अगर सूक्ष्म रूप से व्याख्यायित करते हैं, तो यह साफ जाहिर होता है कि तत्कालीन राजशाही और सामंती ढाँचा के बीच आपसी समझौता था।

उत्तरमध्यकालीन समाज का जनसामान्य वर्ग राजाओं और सामंतों के निरंकुशताओं का शिकार था। राजा और सामंत सामान्य जन के विषय में चिंचित नहीं थे। धार्मिक स्तर भी दिन-ब-दिन क्षीण होता चला गया। आर्थिक दृष्टि से भी समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त होता दिखाई पड़ता है। एक तो भोक्तवर्ग जिसमें राजा, नबाब, अमीर, उमराव, मंसवदार एवं सामंत आदि थे। दूसरा वर्ग था- उत्पादकों का वर्ग जिसमें नौकरी-पेशा के लोग, श्रमिक, कृषक, बढ़ई, लोहार, कहार, जुलाहा आदि आते हैं। भोक्ता और उत्पादक वर्ग के बीच का

व्यवधान थोड़ा न था, वह समय के साथ और भी बढ़ता ही चला गया। यह व्यवधान शासक और शोषित के बीच का था।

मुक्तिबोध इन्हीं शासक एवं शोषित समाज का सूक्ष्म विवेचन करते हैं। उनका इतिहास और समाजबोध दोनों दृष्टि से तर्कसंगत है। इतिहास दिन-प्रतिदिन के घटनाओं का संचयन है और उस घटना का केन्द्र है- समाज और सामाजिक तत्व। रीतिकालीन सामंती व्यवस्था में भोक्ता वर्ग राजा के आश्रय एवं ऐश्वर्य का महात्वाकांक्षी वर्ग था। इसीलिए इस युग में जितनी श्रृंगारिक रचनाएं हुई, उतनी अन्य कालखंड में अपेक्षाकृत कम हैं। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार उचित प्रतीत होता है- "हिंदी का श्रृंगारी रीतिकाल तत्कालीन निम्न वर्गों की वृत्तियों को सूचित नहीं करता। उसकी वासनामूलक श्रृंगारिकता का जन्म तथा विकास एक विशेष सामंती वर्ग की विशेष विकास-स्थिति से ही हुआ। अतएव, युग-स्थिति का सच्चा अर्थ है उस विशेष श्रेणी की स्थिति जो सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र का नेत्तृत्व करनेवाली श्रेणी पर राजनैतिक शासन होता है।"[17] मुक्तिबोध ने तत्कालीन इतिहास के प्रवृतिमूलक तत्वों की ओर इशारा किया है। अर्थात् भोक्ता वर्ग का शोषण बढ़ता गया और जनसमुदाय का सामाजिक एवं आर्थिक स्तर से बल क्षीण होता गया। मुगलकालीन भारत का इतिहास अनेक प्रसंगों में अलग-अलग दौर से गुजरा है। अकबर का भारत जहाँगीर और शाहजहाँ के भारत से भिन्न था और औरंगजेब के समय धार्मिक असहिष्णुता और भी बढ़ता गया। इसीलिए साहित्य में प्रवृत्ति अनायास नहीं आती है। वह प्रभुत्वर्ग एवं जनवर्ग के द्वंद्व को भी उद्घाटित करती है। रीतिकाल का साहित्यिक स्वरूप भोक्ता वर्ग के प्रवृत्ति को उजागर किया है। इसीलिए इस युग की रचनाओं में लौकिकता,

ऐन्द्रिकता एवं ऐहिकता का भाव अधिक है। राजा की प्रशंसा उसके ऐश्वर्य एवं रूपों के वर्णन में कवि अपनी महानता समझते थे। राज्याश्रित कवि राज-दरबार की शोभा के अनुकूल अपनी रचना रचते थे। तत्कालीन साहित्य एवं इतिहास में जनसमुदाय केन्द्र में नहीं था। इसीलिए साहित्य के केन्द्र में राजा और राजशाही व्यवस्था का बखान अधिक मिलता है। मुक्तिबोध जनसरोकार को महत्व देते हैं। जहाँ जनसरोकार केन्द्र में नहीं होता है, वहाँ सामान्य जन की उपेक्षा और शोषण स्वतः होने लगती है। धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर से समाज दिशाहीन हो जाता है और साहित्य भी ह्रासग्रस्त होने लगता है। मुक्तिबोध के अनुसार- "किंतु उसी समाज में यह भी होता है कि लेखक ह्रासग्रस्त शोषकवर्ग की प्रवृत्ति में हो रहकर कला का सृजन करता है। तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाता है। साहित्यिक ह्रास के सभी चिन्ह उसमें मौजूद होते हैं। उदाहरण के लिए मार्शेल प्रस्त का साहित्य। इसका अर्थ कदापि नहीं कि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से, अनिवार्यतः, ह्रासकालीन साहित्य निकृष्ट होता है, वरन् यह कि मानव के स्वरूप का आकलन उस साहित्य में एकांगी, दूषित और आस्थाहीन होता है। हमारा रीतिकालीन साहित्य भी इसीप्रकार का है।"[18]

मुक्तिबोध साहित्य की निकृष्टता का आधार रचनागत स्वरूप को लेकर कहा है। रीतिकालीन साहित्य को उन्होंने 'ह्रासग्रस्त' कहा है, क्योंकि कला की स्वायत्तता जनसमुदाय के सरोकार से जुड़ी होती है। उसमें निकृष्टता तब आती है जब समाज उदार नहीं होता है। धार्मिक एवं राजनैतिक रूप से भोक्ता वर्ग का जब वर्चश्व बढ़ता तब साहित्य और इतिहास में सत्तापक्ष या शाहीपक्ष के स्तर की रचना सामने आती है।

रीतिकाल का इतिहास धार्मिक स्तर से भी ह्रास का इतिहास है। सामाजिक एवं धार्मिक स्तर से समाज में, भोक्ता वर्ग, उत्पादक वर्ग, उच्च वर्ग एवं जाति आदि में विभक्त था। अवध, बुंदेलखंड और राजस्थान का शाही घराना इस रीतिकाव्य परंपरा के पोषण का केन्द्र था। स्त्री उपभोग की वस्तु मात्र थी। उसके श्रृंगार का सूक्ष्मतम विवेचन 'बिहारी सतसई' में देखने को मिलता है। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र के विचार दृष्टव्य हैं- "मठ और मंदिर देवदासियों और मुरलियों के चरणों की छन-छन से गूँजते रहते थे।"[19] सामाजिक स्तर पर हिंदू और मुसलमान दोनों में धर्म भीरूता बढ़ता गया। धर्म के प्रति आस्था और भावना दोनों में कमी आई। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का कहना है- "संपंन हिंदुओं में धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी, केवल धर्म-भीरूता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उसके निकट संपर्क में आने वाले उच्च वर्ग और संपंन मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण को गया था।"[20]

वस्तुतः तत्कालीन समाजिक संरचना में उच्च वर्ग और संपन्न मध्य वर्ग के बीच खाइंया बढ़ती ही गयी और सामान्य जन इन दोनों की संरचना से बाहर था। इसीलिए दिन-प्रतिदिन राजा और सामंत दोनों की आर्थिक स्थिति भी बदतर होती चली गई और दोनों कर्म के बजाय भोग-विलास और चारण कार्यों में रूचि लेने लगा। इस स्थिति में समाज स्वतः गतिविहीन एवं दिशाहीन हो जाता है, जिसे हम पतन की संज्ञा से अभिहित करते है। इस संबंध में मुक्तिबोध का सामाजिक संदर्भ प्रासंगिक है- "मानव का रूप और तत्सम्बन्धी भावना जो हमें रीतिकाल में दिखाई देती है, वह उत्थानशील समाज की विशेषता कदापि नहीं हो सकती।"[21]

उत्थानशील समाज सकारात्मक दिशा में प्रगतिशील होता है। रीतिकाल का इतिहास प्रभुत्वशाली भोक्ता एवं शाही घराने के वर्गों का इतिहास है, जिसमें, निम्नवर्ग, स्त्री समुदाय, किसान, एवं दास शोषित वर्ग है। रीतिकाल में स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन सूक्ष्मता को किया गया है। स्त्री के दैहिक सौन्दर्य का वर्णन, कवि की रचना का प्रमुख केन्द्र बिंदु था। नायिकाभेद, नखसिख वर्णन, इत्यादि साहित्य का केन्द्रबिंदु था। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार द्रष्टव्य हैं- स्त्री के प्रति पुरूष का मूलभूत दृष्टिकोण प्रजोत्पादन तथा काम का दृष्टिकोण था। नारी उपभोग्या हुई, तथा साहित्य में उसके इस उपभोग्या रूप का रस ले-लेकर वर्णन किया जाने लगा।"[22] रीतिकालीन समाज में स्त्री सौन्दर्य साहित्य का केन्द्र बिंदु था, 'स्त्रीत्व' की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है तो निराशा ही हाथ लगती है।

यूँ तो साहित्य एवं कला के कलात्मक दृष्टि से रीतिकाल का इतिहास उच्च हो सकता है क्योंकि कलात्मकता एवं वैचारिकता दोनों अलग-अलग पक्ष को व्याख्यायित करता है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध का मानना है- "शुद्ध कलात्मक दृष्टि से ह्रासकालीन ह्रासग्रस्त साहित्य उच्च भी हो सकता है, जैसे देव मतिराम और बिहारी का साहित्य। किंतु उसके गुणों को देखकर यही कहा जा सकता है कि वह मानव-साहित्य नहीं, प्रवृत्ति-साहित्य है, उत्थान साहित्य नहीं, ह्रास-साहित्य है।"[23]

मुक्तिबोध साहित्यिक दृष्टि से कलात्मकता एवं उसकी स्वायत्तता को अहम मानते हैं। 'मानव-साहित्य' एक व्यापक जनसमुदाय के सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन इत्यादि को अभिव्यंजित करता है। रीतिकाल का

साहित्यिक केन्द्र बिंदु उच्च वर्ग एवं शाही घराना का मानव है, जो भोग, विकास एवं ऐश्वर्य प्रसाधन का प्रशंसक है। राज्यश्रित कवि एवं चारण भी इसी का गुणगान करने में स्वयं को प्रतिभासंपन्न एवं योग्य समझते थे। सामंती व्यवस्था का यह युग चरमोत्कर्ष का युग था।

17वीं शताब्दी तक आते-आते सामाजिक एवं धार्मिक स्वरूपों में काफी परिवर्तन होता चला गया। भक्तिकाल में धर्म में जो सुधार हुआ, रीतिकाल में वह क्षीण होता गया। कृष्ण और गोपियों के श्रृंगार का लौकिक एवं ऐहिक वर्णन अत्यधिक होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण की भक्ति अब भक्ति नहीं, अपितु लौकिक श्रृंगार वर्णन का विषयवस्तु बन गया। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं- "धर्म की आंतरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गए और विलासी लोग धर्म के उन्हीं श्रृंगारपरक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलासपूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।"[24]

मुक्तिबोध रीतिकालीन साहित्य के इतिहास एवं उसके प्रवृत्तिमूलक तत्वों का विवेचन तर्कसंगत रूप से किए हैं। उनका इतिहासबोध, तत्कालीन समाज, साहित्य एवं इतिहास में तीनों स्वरूपों का विवेचन शामिल है। इतिहासबोध समाज और सामाजिक संरचना दोनों को व्याख्यायित करता है। साहित्य उसके समस्त तत्वों से संदर्भित करता है। इसीलिए मुक्तिबोध साहित्य के प्रवृत्तिमूलक इतिहास की विवेचना करते हैं। रीतिकालीन व्यवस्था सामंती व्यवस्था थी। उस

सामंती व्यवस्था का ऐश्वर्य भोक्ता वर्ग के पास था। जनसमुदाय अधिकारविहीन एवं अर्थविहीन था। इसीलिए भोक्ता एवं उत्पादक वर्ग के बीच की आर्थिक स्थिति एवं स्तर दोनों में बहुत अंतर था।

मुक्तिबोध रीतिकालीन साहित्य को ह्रास साहित्य कहते हैं, क्योंकि तत्कालीन साहित्य में 'जनसमुदाय' केन्द्र में नहीं था। धीरे-धीरे सामंत और राजा भी कमजोर पड़ने लगा और विदेशी एवं व्यापारी का आगमन, उससे आपसी समझौता, राजशाही व्यवस्था की जरूरत हो गई। मुक्तिबोध इन समस्त पक्षों को युग परिवर्तन और साहित्य में रूचि के तौर देखते हैं। जैसे आदिकाल का वीरतापरक काव्य, भक्तिकाल का समाज-सुधार एवं रीतिकाल का श्रृंगारिक काव्य। इन तीनों कालखंडों में जनसमुदाय का घोर संघर्ष रहा है। उसके भीतर का वर्ग-संघर्ष भी हमेशा सक्रिय रहा। इसीलिए इतिहास और इतिहासबोध में घटना का 'कार्य-कारण' संबंध एवं द्वंद्व दोनों महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय समाज वर्ण, वर्ग एवं जाति तीनों में विभक्त समाज है, जो इतिहास के अलग-अलग कालखंडों में हम अलग-अलग स्वरूप में देखते हैं। इन तीनों के बीच संघर्ष भी रहा है। इस संबंध में मुक्तिबोध के विचार प्रासंगिक है- "जो वर्ग-संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय है, वह अपने वर्ग-संबंधों के भीतर उपस्थित मानव संबंधों को ध्यान में रख, अपनी विशेष स्थिति और अवस्था के अनुसार, अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ प्रकट करता है। उदाहरणतः हिंदी साहित्य के सामंती काल में वीर, श्रृंगार और अध्यात्म- ये तीन ही विषय आवृत और पुनरावृत होते रहे।"[25]

संदर्भ

1. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 5

2. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 65

3. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 521

4. डॉ. नगेन्द्र (संपा.); हिन्दी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपरबैक्स, नोएडा; संस्करण: 2012, पृ. सं.- 54

5. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 13

6. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद; हिन्दी साहित्य का आदिकाल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2006, पृ. सं.- 110

7. 'मुक्तिबोध', गजानन माधव; भारत: इतिहास और संस्कृति; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण: 2014, पृ. सं.- 13

8. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 111

9. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 289

10. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011,पृ. सं.- 289

11. शर्मा, रामविलास, संस्कृति और साहित्य आलोचना व निबंध, किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 93

12. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 289

13. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 290

14. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 292

15. शर्मा, रामविलास, साहित्य स्थानीय मूल्य और मूल्यांकन, अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1968 पृ. सं.- 35

16. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास; कांति पब्लिकेशन्स, दिल्ली; संस्करण: 2011, पृ. सं.- 185

17. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 51

18. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

19. डॉ. नगेन्द्र; रीतिकाव्य की भूमिका आलोचना व निबंध, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 16

20. वही, पृ. सं.- 16

21. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

22. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 47

23. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 43

24. डॉ. नगेन्द्र; रीतिकाव्य की भूमिका आलोचना व निबंध, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण: 1949, पृ. सं.- 16

25. जैन, नेमिचन्द्र; मुक्तिबोध रचनावली (खण्ड-5); राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण: 1986, तीसरी आवृत्ति:2011, पृ. सं.- 110